The Academic
International Journal of Multidisciplinary Research

An Online Peer Reviewed / Refereed Journal
Volume 2 | Issue 11 | November 2024
ISSN: 2583-973X (Online)
Website: www.theacademic.in

प्राचीन भारत में मुद्रा निर्माण प्रविधि

डॉ0 राजेश कुमार

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, इतिहास विभाग,
हिन्दू कॉलेज, मुरादबाद, उत्तर प्रदेश
(संबद्ध महात्मा ज्योतिबा फुले रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली, उत्तर प्रदेश)

आधुनिक काल के समान प्राचीन समय में भी मनुष्य को उच्च प्रौद्योगिकी का ज्ञान था जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण विभिन्न धातुओं के प्रयोग से निर्मित समकालीन ढलित मूर्तियाँ, मुहरे एवं लौह स्तम्भ आदि है। मुद्रा निर्माण कार्य भी इनमें से एक है। प्राचीन कालीन साहित्य ऐसे अनेकशः उद्धरण प्रस्तुत करते है जिससे समकालीन मुद्रा निर्माण प्रौद्योगिकी पर प्रकाश पड़ता है। वैदिक साहित्य में 'रूप' एवं 'मुद्रा' शब्दों का प्रयोग 'सिक्कों' के प्रसंग में हुआ है। रूप का शाब्दिक अर्थ है 'मुद्रांकित की हुई वस्तु' (Stamped object) अथवा 'शैली' (Form) उक्त शब्द को 'लुप' धातु व्युत्पन्न 'रूप' का समानार्थी एवं संयुक्त पद 'लोपा मुद्रा' अथवा 'विश्वरूप', से जोड़ा गया है। विश्वरूप 'निष्क' के प्रसंग में आया है जबकि संयुक्त लोपामुद्रा का आशय 'आहत' अथवा 'लिखित' वस्तु से लिया जाता है।[1] रूप विषय का तादात्म्य प्राचीन कालीन मुद्रा विज्ञान से किया गया है। इसकी पुष्टि विसुद्धिमण के चौदहवे परिच्छेद में वर्णित बुद्धघोष के उस कथन से भी होती है जिसमें 'रूप–सुत्त' पर टिप्पणी करते हुए उनके द्वारा कहा गया है कि यह एक नियम संग्ग्रह है जो मुद्रा विज्ञान के विषय में विचार प्रस्तुत करता है।[2] अष्टाध्यायी में 'रूप्य' और आहत दोनों शब्दों का आशय चिह्नित मुद्राओं से है। अर्थशास्त्र में 'रुप्य–रूप' एवं 'ताम्र रूप' रजत और ताम्र धातु से निर्मित मुद्राओं के प्रसंग में आया है।[3] यही 'रूप', 'रूप्य' 'रुपिया' आदि में विकसित होकर मध्यकाल में 'रुप्या' बना। यही रूपया आधुनिक समय में परिवर्तित स्वरूप के साथ विनिमय के माध्यम में प्रयुक्त आवश्यक अभिधान है। ऊपर निर्दिष्ट सभी उद्धरण प्राचीन काल में मुद्रा प्रौद्योगिकी विषयक ज्ञान के प्रचलन की पुष्टि करते है।

प्रारम्भिक काल से ही मुद्रा निर्माण प्रौद्योगिकी एक व्यवसायिक विषय के रूप में पठनीय था। इसके अन्तर्गत टंकणकला, धातुओं की पहचान एवं माप–तौल इत्यादि कार्यों की शिक्षा दी जाती थी। यह केवल एक राज्य कार्य करने वालों के लिए ही नहीं अपितु साधारण लोंगों के लिए भी उपयोगी था। जिससे इस विषय में पारंगत राजा अपने प्रशासन को सुदृढ व्यवस्था प्रदान कर सके जबकि अन्य लोग इसे आजीविका का साधन बना सकें।

प्राराम्भिक साहित्य में मुद्रा निर्माण सम्बन्धित अनेक साक्ष्य प्राप्त होते है किन्तु पुरातात्त्विक सन्दर्भ से उनकी पुष्टि न होने के कारण उन्हें वैधानिक मुद्रा की श्रेणी में नहीं रखा जाता। आहत मुद्राओं के प्रचलन के साथ ही भारत में प्रथम सुव्यवस्थित एवं वैधानिक मौद्रीकरण का सूत्रपात हुआ। इनकी बनावट तकनीकी ज्ञान की जटिल प्रक्रिया को दर्शाती है। तदनन्तर आर्थिक आवश्यकताओं के संवर्धन के साथ ही मुद्रा निर्माण प्रौद्योगिकी में विकास एवं विस्तार हुआ। विभिन्न प्रकार की प्रविधियों का उपयोग भाँति–भाँति प्रकार की मुद्राओं के निर्माण में किया जाने लगा। तदनन्तर समाज में विभिन्न तौल की छोटी–बड़ी मुद्राओं का प्रचलन बढ़ा, यदा–कदा बड़ी मुद्राओं को ही काट कर अर्थ–तौल का भारमान दे दिया जाता था।

6वीं शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर बारहवीं शताब्दी ई० तक के कालक्रम में ऐसी अनेकों मुद्राएँ प्राप्त हुई जो बनावट अथवा संरचना की दृष्टि में एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होती है। यह अन्तर स्थान भेद के कारण तो है ही साथ ही बनावट की विशेष प्रविधियाँ भी इसमें मुख्य सहयोगी रहीं है। ज्ञात मौद्रिक साक्ष्यों के आधार पर प्राचीन भारतीय मुद्रा निर्माण प्रणाली को निम्न चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

(1) आहत प्रविधि (Punch mark Technique)

(2) ढलवां प्रविधि (Cast technique)

(3) ठप्पा–प्रहार प्रविधि (Die striking technique)

(4) उप्पीडितांक प्रविधि (Repousse Technique)

उपर्युक्त प्रणालियाँ भारत के विभिन्न क्षेलों में निश्चित कालावधि तक फलीभूत होती रही। यदि ऊपर वर्णित सभी प्रणालियों के प्रसार क्षेत्रों का अवलोकन किया जाये तो यह ज्ञात होता है कि आहत प्रणाली भारतीय उपमहाद्वीप के विस्तृत क्षेत्रों में दीर्घकालीन अवधि तक प्रचलन में रही, जबकि ढलवां प्रणाली मुख्यतः गंगा–यमुना के क्षेत्रों तक ही सीमित होकर रह गयी। यद्यपि कुछ ढलवां मुद्रायें भारत के बाहर अफगानिस्तान, बांग्लादेश एवं नेपाल से भी प्राप्त हुई। सम्भवतः इन मुद्राओं का उपयोग व्यापारिक कार्यों में होता था, जिसके कारण इन मुद्राओं का प्रसार भारत के उपमहाद्वीपीय क्षेत्रों में हुआ। उत्पीडितांक प्रणाली मध्य भारत के कुछ क्षेत्रों में ही प्रचलित रही, जबकि ठप्पा प्रहार प्रणाली का उपयोग सम्पूर्ण भारत के अधिकांश क्षेतों में होता रहा। प्राचीन भारत के अधिकांश राजवंशों के टकसालों में लम्बे समय तक यह प्रणाली कार्यरत रही।

आहत प्रविधि–

भारतीय परिक्षेत्रों से नेप्राप्त प्राचीन 'कर्षापण' को आहत कहा जाता है। काशीकाकार[4] ने आहत को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'निहाई पर रखकर पीटने से दीनार आदि पर जो रूप बनाया जाता है।'

निघतिकाताडनदिना दीनारादीपु रूप यदुत्पधते तदाहतमित्युच्यते। यद्यपि आहत की चर्चा पाणिनी के सूत्रों से ही आया है।[5] जिसे काशिकाकार ने व्याख्यायित किया है। कलकत्ता टकसाल में परीक्षण विशेषज्ञ के पद पर रहते हुए जेम्स प्रिन्सेय के द्वारा इन मुद्राओं का विस्तृत अध्ययन किया गया तथा तकनीकी विशेषताओं एवं लांछनों के आधार पर इन मुद्राओं को 'पंचमार्क्ड क्वायन' नाम से अभिहित किया गया[6] तकनीकी दृष्टि से मुद्राओं की संरचना के दो विधान होते है– प्रथम बाहरी परिदृश्य एवं द्वितीय आन्तरिक संरचना बाहरी परिदृश्य में सर्वप्रथम मुद्रा के निमित्त रिक्त कृतियों (FLAN) को तैयार किया जाता है (चिम में प्रदर्शित)। उसके पश्चात् उन पर प्रतीकों अथवा किसी भी प्रकार के चिह्न अंकन का कार्य होता है।

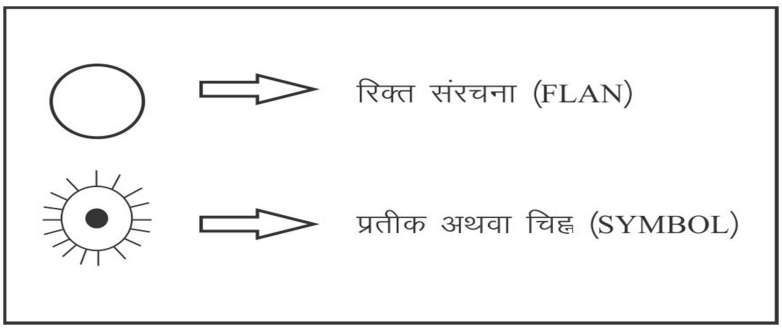

आन्तरिक संरचना पूर्णतया धातु संयोजन (Metal composition) पर आधारित होती है। जिस भी प्रकार के धातु यौगिकों के संयोग से मुद्राये निर्मित होती है, उसी आधार पर उनका मूल्य अथवा महत्त्व निर्धारित होता है। बनावट की दृष्टि से उक्त आहत मुद्राओं में निम्न प्रभेद दिखायी देते हैं–

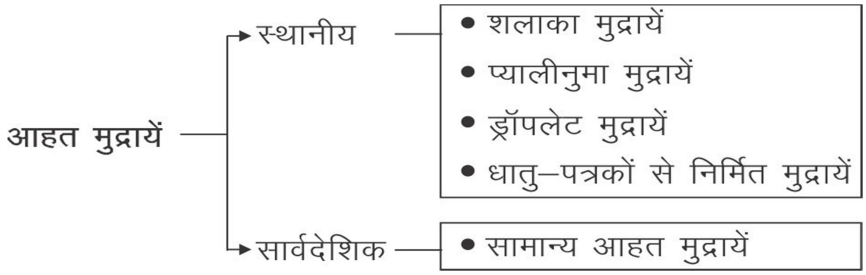

स्थानीय आहत मुद्राओं में कुछ जनपदों यथा–गंधार, काशी, कोसल, कुन्तल आदि को छोड़कर अन्य जनपदों की मुद्राओं को धातु पत्रको से काट कर निर्मित किया गया है। सार्वदेशिक आहत मुद्राओं की श्रेणी में उन मुद्राओं को रखा जाता है जो पाँच या उससे अधिक चिन्हों को धारण करती हो एवं भार 32 रत्ती (56 ग्रेन) के आस–पास हो। ये आकार में गोल, चकोर, आयताकार, अण्डाकार इत्यादि विविध स्वरूपों में पायी जाती है। इनमें मुख्य बात यह है कि स्थानीय आहत मुद्राओं की किसी भी मुद्रा निधि (Coins Hoard) से सार्वदेशिक आहत मुद्रायें नहीं प्राप्त होती है। इसी प्रकार सार्वदेशिक आहत मुद्राओं की मुद्रा निधियाँ बड़ी संख्या में प्राप्त हुई है, किन्तु दुर्लभ ही स्थानीय मुद्राओं की प्राप्ति होती है। आहत मुद्राओं पर विभिन्न प्रकार के 500 से भी अधिक चिह्न व आकृतियाँ प्राप्त हुई है। आहत प्रविधि से निर्मित मुद्रायें लगभग 6 वीं शताब्दी ई० पूर्व से लेकर मौर्यकाल के अन्तिम चरण तक निर्मित होती रहीं। यह रजत तथा ताम्र दोनों धातुओं की प्राप्त हुई है। किन्तु सर्वाधिक बड़ी संख्या रजत मुद्राओं की है। ऐसा प्रतीत होता है कि रजत धातु की मुद्राओं की मांग अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिक था एवं चलन के क्रम में ताम्र की तुलना में रजत धातु का क्षरण कम होता है जिसके कारण इनके निर्माण पत्र बल दिया गया। प्रारम्भिक आहत मुद्राओं के अध्ययन से

इनकी विशेषतायें उभरकर सामने आती है। इन मुद्राओं के निर्माण में एकाधिक विचियों का प्रयोग किया गया था। भारत के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त आहत मुद्राओं के आकार–प्रकार में संरचनात्मक अन्तर दिखायी देता है।

ढलवां प्रविधि– ढलाई प्रविधि से मनुष्य का परिचय हड़प्पा काल से ही हो चुका था किन्तु मुद्रा निर्माण में इस प्रविधि का उपयोग 2 वीं शताब्दी ईसा पूर्व के पश्चात हुआ। देश के प्राचीन पुरस्थलों यथा–हस्तिनापुर, उज्जैन, रोपड़ एवं कौशाम्बी आदि स्थलों के पुरातात्विक उत्खनन में, आहत मुद्राओं के साथ अथवा उनके समानान्तर स्तरों से एक भिन्न प्रणाली में निर्मित ताम्र मुद्राओं की प्राप्ति होती है। ये आकार में वृत्ताकार, वर्गाकार अथवा कभी–कभी युग्मित अवस्था में प्राप्त होती है। उक्त मुद्राओं पर आहत के सामन लांछन प्रक्रिया का अनुसरण नहीं दिखायी देता है अपितु इन पर अंकित चिह्न सतह से उभरे प्रतीत होते हैं।[7] वैज्ञानिक विश्लेषण एवं तकनीकी परीक्षणों से यह ज्ञात हुआ है कि इन मुद्राओं का निर्माण विभिन्न प्रकार के साँचों में ढाल कर किया गया है आर्थिक अव्यवस्था एवं श्रम अथवा लागत की कमी के कारण मुद्राओं को ढाल कर बनाये जाने लगा। कुछ स्थानीय शासकों यथा, यौधेय, सावाहन आदि के द्वारा इस प्रविधि को मुद्रा निर्माण प्रक्रिया में अपनाया गया। उक्त मुद्राओं को शैली के आधार पर निम्न श्रेणियों में विभाजित किया जाता है–

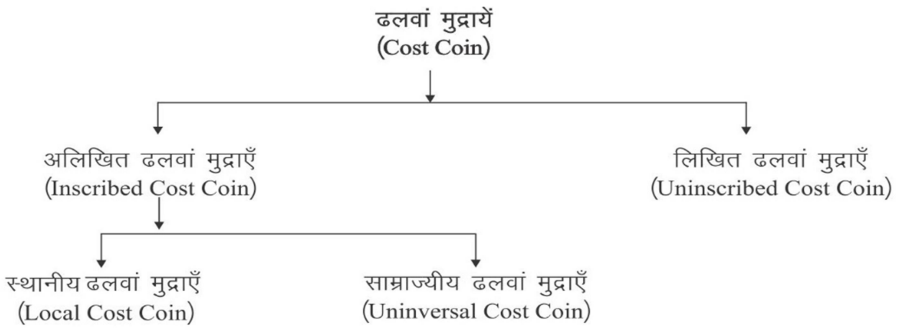

अलिखित ढलवा मुद्रायें उन मुद्राओं को कहा गया है जो आहत मुद्राओं के स्तर से प्राप्त होती है एवं उन पर किसी प्रकार का लेखन नहीं पाया जाता है। उन पर केवल हस्ती, स्वास्तिक, मेरुपर्वत, अर्द्धचन्द्र एवं इन्द्रध्वज आदि का अंकन मिलता है। स्थानीय मुद्राएँ अधिकांशतः गंगा यमुना दोआब एवं मध्य प्रदेश के कुछ क्षेत्रों से मिली है।[8] परन्तु एस0सी राय को इस प्रकार की कुछ मुद्राएँ बांग्लादेश के यूसुफजई प्रान्त एवं नेपाल के तिलौराकोट से प्राप्त हुई।[9] उसके पश्चात् यह अनुमान लगाया गया

की ये मुद्रायें सार्वदेशिक स्तर पर प्रचलित थी। लिखित ढलवां मुद्राएं ऊपर वर्णित मुद्राओं की अपेक्षा बाद की है।

ढलवां मुद्राओं का निर्माण विभिन्न आकार–प्रकार के साँचों से किया जाता था। बीरबल साहनी, ओमानन्द सरस्वती, उपेन्द्र ठाकुर आदि विद्वानों के द्वारा पुरातात्विक उत्खनन में प्राप्त साँचों का विस्तृत अध्ययन किया गया है। यह साँचे रोहतक, सुनेत, नौरंगाबाद, एरण, साँची, तक्षशिला, काशी एवं नालन्दा आदि स्थानों से प्राप्त हुए है। उक्त साँचों के परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि चिकनी मिट्टी, लाख, मधुमोम, अलसी का तेल, सीसा, राख आदि वस्तुओं का उपयोग इनके निर्माण में किया जाता था। ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी में कौशाम्बी मथुरा एवं अयोध्या में मुद्राओं को ढाला जाता था इन जनपदों में ढली हुई गोलाकार मुद्राएँ प्राप्त हुई है। ढालने की प्रक्रिया में चौकोर के स्थान पर गोल मुद्राओं को निर्मित करना अधिक सरल था, अतरंजीखेड़ा से चौकोर मुद्रा साँचे के प्रमाण मिले है। मौर्योत्तर काल की विकेन्द्रीकरण की स्थिति में विदेशी आक्रमण के कारण व्यापार एवं वाणिज्य प्रभावित हो रहे थे। इस स्थिति में श्रम एवं लागत की कमी के कारण सस्ती मुद्राओं का उपयोग मौद्रिक अर्थव्यवस्था के संचालन में किया जाने लगा। कुछ जनपदीय एवं राजकीय मुद्राओं का निर्माण इस प्रविधि के माध्यम से हुआ किन्तु अधिक समय तक यह प्रविधि चलन में नहीं रह सकी इसके पीछे अनेक कारण दिखायी देते है, यथा–मिट्टी के साँचे एक बार उपयोग के पश्चात् नष्ट हो जाते थे, साँचों को बार–बार बनाने की प्रक्रिया अत्यधिक श्रमसाध्य थी एवं राँगा धातु की कमी आदि। कूट मुद्राओं के लिए साँचों का प्रयोग सबसे उपयुक्त प्रविधि थी। जिससे समाज में कूट मुद्राओं का प्रचलन बढ़ने लगा। यही कारण है कि प्राचीन राजवंशों के द्वारा इस प्रविधि को अधिक प्रश्रय नहीं दिया गया।

(3) ठप्पा–प्रहार प्रविधि–

प्राचीन भारत में तकनीकी विकास की सतत प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप ठप्पांकन प्रणाली के द्वारा मुद्राएँ निर्मित की जाने लगी। कालान्तर में दोनों प्रविधियों का स्थान ठप्पा–प्रहार प्रणाली ने ग्रहण कर लिया। ठप्पा प्रहार प्रविधि से निर्मित मुद्रायें स्वर्ण, रजत, ताम्र एवं सीसा आदि सभी धातुओं की मिलती है। इस प्रविधि की मुख्य विशेषता मुद्राओं पर लांछन के लिए भिन्न–भिन्न चिह्न वाले एक बड़े ठप्पे का प्रयोग, लेखन कला का विकास, मुद्राओं को सुडौल बनाने के लिए अपघर्षण एवं तापानु

शितन प्रक्रिया आदि इस काल में ठप्पा निहाई एवं मुष्टिका की सहायता से सुन्दर एवं सुडौल मुद्राओं को आकार दिया जाने लगा। यह प्रविधि आहत प्रविधि का ही विकसित स्वरूप प्रतीत होता है क्योंकि इस प्रक्रिया में अलग–अलग बिम्बंटकों को चिह्नों को समेट कर एक बड़े ठप्पे के अन्तर्गत कर लिया गया था। विद्वानों के द्वारा इस प्रविधि को 'ठप्पा प्रहार' प्रविधि अथवा 'ठप्पा निहाई विधि', की संज्ञा दी गयी। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के पश्चात् भारतीय शासकों के द्वारा शताब्दियों तक इस प्रविधि का उपयोग मुद्राओं के निर्माण में किया जाता रहा। यहाँ तक की आज भी इस प्रणाली का उपयोग मुद्रा निर्माण के क्षेत्र में हो रहा है किन्तु आधुनिक समय में इस कार्य के निष्पादन में मशीनों का प्रयोग होने लगा है। इस प्रविधि से निर्मित मुद्राएँ अधिकांशतः सुरूप, वृत्ताकार एवं सुस्पष्ट प्रतीक चिन्हों, आकृतियों तथा लेखों को धारण करती है। मौर्यो के पश्चात भारतीय उपमहाद्वीप के अधिकांश शासको के द्वारा उक्त प्रविधि का उपयोग स्वयं की टकसालों में किया गया। मुद्राशास्त्रियों का मत है कि प्रारम्भ में मुद्राओं पर ठप्पांकन का कार्य एक ओर ही किया जाता था किन्तु कालान्तर में यह कार्य दोनों ओर किया जाने लगा। गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल के पश्चात् भी उक्त प्रविधि का प्रयोग निरन्तर होता रहा।

विद्वानों के द्वारा पुरातात्विक उत्खननों में प्राप्त वस्तुओं के आधार पर ठप्पा प्रहार प्रणाली में उपयोग होने वाले उपकरणों का अनुमान लगाया गया है इनमें प्रथम तीन उपकरणों का प्रयोग, मुख्यतः किया जाता था निहाई ठप्पा (Anvil-die), हथौड़ा (Hammer), वेधनी ठप्पा (Punch-die), छेनी/तक्षणी (Incisor) अपघर्षक यंत्र (Abrasive tool)। इस प्रतिधि में सर्वाधिक महत्त्व ठप्पे का होता है। यह अनुमान है कि ठप्पे को मुहर के अनुरूप तैयार किया जाता था। पुराविदों के द्वारा दो प्रकार से ठप्पा तैयार करने का वर्णन किया गया है। बी०एन० मुखर्जी के अनुसार पुरोभाग एवं पृष्ठ भाग के प्रतिरूप को संगतरास के द्वारा सूक्ष्म तक्षणी अथवा छेनी के माध्यम से एल्युमिनियम सिलिकेट से बने कृत्रिम मिट्टी के पिण्ड पर उकेरा जाता था। इस संरचना को अग्नि में उच्च ताम पर पका दिया जाता था। पकाने के पश्चात् भी मृणमृत्तिका पर चिह्न एवं आकृतियाँ गाढ़ी अवस्था में रहती थी। तदनन्तर उक्त मृणमृत्तिका को गर्म पिघली हुई धातु से ढक दिया जाता था जिससे पिघली धातु में नकरात्मक चिह्न स्थानान्तरित हो जाये। इसके पश्चात् ठप्पे को मजबूती प्रदान करने के लिए तापानुशीतन (Anneald Process) विधि द्वारा धीमी आंच पर गर्म करके धीरे–धीरे ठण्डा करने का कार्य (Quencing Process) किया जाता था। यह प्रक्रिया बार–बार दोहरायी जाती थी, तत्पश्चात् दोनों ठप्पे तैयार हो

जाते थे। ठप्पा तैयार करने की एक वैकल्पिक विधि का भी अनुसरण दिखायी देता है। इस प्रक्रिया में नरम स्टील, पीतल अथवा काँसे की घड़ों के टुकड़ों में काटकर, उन्हें मूषा में रखकर उचित ताप पर पिघलाया जाता था। पिघली हुई धातु को पहले से ही चिह्न एवं आकृतियों से उत्कीर्ण साँचे में डालकर ढाल लिया जाता था। उपर्युक्त दोनों विधियों से तैयार साँचे को टकसाल में कार्य करने वाले कर्मचारी अपने मुद्रा ठप्पा के कार्य में उपयोग करते थे।

अन्तिम कार्य ठप्पांकन का होता था जिससे ठम्यांकन के निर्मित सर्वप्रथम मुद्राकृतियों की तौल एवं आकार को सुनिश्चित कर निहाई के ऊपर पृष्ठ भाग के ठप्ये को जड़ दिया जाता था। अग्र भाग का ठप्पा वेधनी में संलग्न रहता था। प्रत्येक मुद्राकृति को धीमी आंच पर गर्म करके ठप्पांकन के लिए मुलायम कर पहले से संलग्न निहाई वाले ठप्पे के ऊपर स्थापित कर दिया जाता था तत्पश्चात वेधनी वाले ठप्पे को उक्त आकृत पर रखकर हथौड़े के प्रकार से ठप्पांकन का कार्य निष्पादित होता था। परिणामतः दोनों ओर आवश्यक छाप सादे मुद्रा के ऊपर उत्कीर्ण हो जाते थे।[10]

द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के प्रथम चरण में उत्तर भारत के अधिकाश क्षेत्रों में ठप्पा प्रहार प्रविधि का प्रयोग मुद्रा निर्माण प्रणाली में दिखायी देता है। किन्तु स्थानीय शासकों की मुद्राओं में अन्य प्रविधियों का प्रयोग साथ–साथ हो रहा था। गुप्तों के उदय के पूर्व तक के जो स्थानीय शासको यथा कौशाम्बी, एरण, विदिशा, शुक्तिमती, महिष्मती, त्रिपुरी, उज्जैनी एवं कुरधर की मुद्रायें आहत, ढ़लित एवं ठप्पा प्रहार प्रणाली, तीनों प्रकार से निर्मित मिलती है।[11] उज्जैनी एवं त्रिपुरी क्षेत्र से प्राप्त जनपदीय मुद्राएँ एवं सेवक राजवंशों की मुद्राओं को देखने से ज्ञात होता है कि मध्य भारत मुद्रा निर्माण विकास प्रक्रिया के आहत से ढलवां एवं ढलवां से ठप्पा तकनीक की ओर यात्रा कर रहा था। ठप्पा प्रहार प्रविधि के विकास के पश्चात् मुद्राओं को कम परिक्रम में सुरूप बनाना अधिक सरल हो गया।

उप्पीडितांक प्रविधि (Repousses Technique)–

स्थानीय स्तर घर शासकों के द्वारा मुद्रा के निर्माण में विभिन्न प्रयोग किये जा रहे थे। 5वीं शताब्दी के मध्य में एक ऐसा ही प्रयोग मध्य भारत में दिखाई देता है। मुद्रा प्रौद्योगिकी के इतिहास में एक नई प्रणाली का सूत्रपात हुआ जिसे उप्पीडितांक प्रविधि की संज्ञा दी गयी है। 5 वीं शताब्दी ईस्वी के मध्य एवं 6 वी शताब्दी ई० के प्रारम्भिक चरण में, दक्षिण कोसल (जिसमें आधुनिक छत्तीसगढ़, प०

उड़ीसा का क्षेत्र सम्मिलित है) से एक अन्य शैली में निर्मित मुद्राओं का ज्ञान मिलता है। मोरेश्वर गंगाधर दीक्षित के द्वारा स्थानीय रूप से उपयुक्त शब्दावली एवं तकनीक के आधार पर इन्हें उप्पीडितांक मुद्रा (Repousses coins) नाम दिया गया।[12] यह दो शब्दों से मिल कर बना है, प्रथम 'उत्पीड़ित' जिसका पर्याय है 'ठीक प्रकार से दबाया हुआ (Well Pressed) द्वितीय 'तंक' अथवा 'टंक' जिसे यन्त्र, साधन या प्रणाली के पर्याय के रूप में लिया गया है। अनन्त सदाशिव अलतेकर का मन्तव्य है कि इसे न तो ढाला जाता था, ना ही टप्पे से निर्मित किया जाता था बल्कि किसी सूक्ष्म सूचिका के माध्यम से उभारा (Embossed) जाता था। अतः इस कारण उनके द्वारा इसे 'प्रिष्ठोत्थापित' नाम से अभिहित किया गया है।[13] आभूषण निर्माण कला में यह तकनीक पहले से की व्यवहार में थी परन्तु मुद्रा निर्माण में यह प्रथम प्रयोग था। उप्पीडितांक मुद्राएँ दो प्रारूपों में मिलती है, प्रथम श्रेणी में उन मुद्राओं को रखा गया है जिन पर गरुड़ अथवा चक्र या कभी–कभी दोनों का अंकन प्रतीकों के रूप में हुआ है। इस श्रृंखला का सम्बन्ध छत्तीसंगढ़ के शरभपुरीये वंश के शासकों से जोड़ा जाता था। उप्पीड़ितांक मुद्राओं की दूसरी श्रृंखला में नन्दी और बैल का अंकन मिलता है जिसका सम्बन्ध नल वंश के शासकों से माना जाता है। उत्पीडितांक मुद्राएँ अधिकांशतः छत्तीसगढ़ के भिन्न–भिन्न जनपदों से प्रकाश में आयी है। केवल प्रसन्नमात्र की कुछ मुद्राएँ ओडिसा के कालाहाण्डी एवं कटक जनपद से प्राप्त हुई है। उप्पीड़ितांक मुद्राएँ अपनी विशेष बनावट के कारण सदैव कौतूहल का विषय रही है। विवेच्य काल में जहाँ अन्य स्थान के शासकों के द्वारा ठोस मुद्राओं के निर्माण पर बल दिया गया वही दक्षिण कोसल के शरभपुरीये एवं नल शासकों ने खोखली एवं छोटी मुद्राओं को निर्मित करवाया। तकनीक एवं संरचना के आधार पर ये अन्य मुद्राओं से पृथक है।

इसमें सन्देह नहीं की शिल्पाकारों एवं स्वर्णकारों के द्वारा इस प्रणाली का उपयोग प्राचीन काल में किया जाता था किन्तु विद्वानों में मुद्रा निर्माण प्रणाली में इस तकनीक के प्रयोग को लेकर मतभेद था। टी०पी० वर्मा की अवधारणा है कि उप्पीड़ितांक प्रणाली से मुद्राओं के निर्मित किये जाने में उनके वास्तविक मूल्य की अपेक्षा अधिक लागत, समय एवं परिश्रम व्यय होता था, इसके पश्चात् भी दोनों ओर चिह्न नहीं अंकित किये जाते थे।[14] बी०एन० मुखर्जी का मत है कि मुद्रा उत्पादन की यह प्रणाली मुद्रा व्यावसायिकों के बीच कम प्रचलित रही होगी जिस कारण इसे सीमित क्षेत्रों में ही ग्रहण किया गया।[15] परन्तु चंद्रशेखर गुप्ता इनके मत से असहमत थे, उनका कहना था कि परिश्रम एवं लागत के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में इस तकनीक को अत्यधिक प्रश्रय नहीं

किया गया।[16] मुद्रा के क्षेत्र में भले ही यह तकनीक बहुत स्वीकार्य ना रही हो किन्तु अन्य क्षेत्रों में इसकी प्राचीनता चौथी शताब्दी ईसा पूर्व तक जाती है। पिपरहवा एवं लौरियानन्दनगढ़ से प्राप्त स्वर्ण धातु की मातृदेवी की मूर्ति प्राप्त हुई है, जो उप्पीड़ितांक प्रणाली से ही निर्मित है।[17] उप्पीडितांक मुद्राएँ अधिकांशतः स्वर्ण धातु की ही प्रतिवेदित हुई हैं, किन्तु एल०पी० पांडेय के द्वारा प्रसन्नमात्र की रजत मुद्राओं का सन्दर्भ दिया गया है, जिस पर मिश्रित स्वर्ण धातु की हल्की परत चढ़ी है।[18] ए०एम० शास्त्री के द्वारा सुझाव दिया गया है कि सन्दर्भित मुद्रा मिश्रित स्वर्ण से निर्मित है। इसी प्रकार की प्रसन्नमात्र की कुछ रजत कुछ मुद्राएँ ताल ग्राम, बिलासपुर से प्रकाश में आयी है।[19] इसी शासक की ताम्र धातु की भी मुद्राएँ मल्हार ग्राम के निवासी गुलाब सिंह को मिली थी। यह कहना तर्क पूर्ण होगा की विवेच्य काल में केवल स्वर्ण मुद्राएँ ही इस प्रविधि से नहीं बनी, बल्कि रजत एवं ताम्राधातु का प्रयोग भी उक्त प्रकार की मुद्राओं के लिए किया गया। यद्यपि यह प्रविधि लोक प्रचलित नहीं थी एवं इस प्रकार से कारीगरी एक दुरूह कार्य था। अधिकांशतः आभूषण एवं मूर्तियों के निर्माण के लिए इस प्रकार के कार्यों का उपयोग अधिक होता था। यही कारण है कि प्रारम्भ में इन मुद्राओं को मात्र पुतली समझा गया, अनेक विद्वान इन्हें मानने के पक्ष में नहीं थे। किन्तु समयान्तराल के पश्वात् जब अन्य स्थानों से भी ये मुद्राएँ प्राप्त हुई तो मापदंड के आधार पर इन्हें मुद्रा माना गया किन्तु इतना तो अवश्य कहना होगा की यह किसी विशेष उपलक्ष्य अथवा स्मृति चिह्न के रूप में ही ढाली जाती रही होगी।

वर्णित तथ्यों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में मुद्रा निर्माण प्रणाली देश और काल के अनुसार सदैव परिवर्तनीय रही है। श्रम एवं लागत को ध्यान में रखकर मुद्रा उत्पादन की क्षमता को बढ़ाने का प्रयास किया गया। 6वी शताब्दी ईसा पूर्व भी मुद्राएँ किसी न किसी रूप में विद्यमान थी तदनन्तर ही एक निश्चित आकार एवं तौल की धातु खण्डों का बोध मुद्रा के रूप में हो सका। आहत प्रविधि से निर्मित मुद्रायें 6 वी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर मौर्य काल के अन्तिम चरण तक निर्मित होती रही। यह रजत एवं ताम्र दोनों धातुओं की प्राप्त हुई है। किन्तु सर्वाधिक बड़ी संख्या रजत मुद्राओं की है। आहत मुद्राओं की निर्माण प्रविधि अपने आरम्भ से अन्तिम काल तक धीरे–धीरे जटिल होती चली गयी। परन्तु वाणिज्य एवं व्यापार में आहत मुद्राओं के मांग के कारण कम समय में अधिक उत्पादन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी जिसने कारण मुद्राओं को ढालने की परम्परा का विकास हुआ। मुद्रा निर्माण में ढलाई प्रविधि का उपयोग द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के पश्चात

हुआ। ढलित मुद्राओं पर दिखायी देने वाले लांछन आहत मुद्राओं के सदृश्य एवं लेख विहीन है जिसके आधार पर भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह उनके अनुकरण पर बनाये गये होंगे। किन्तु अधिक समय तक यह प्रविधि चलन में नहीं रह सकी। इसके पीछे अनेक कारण दिखायी देते है यथा–मिट्टी के साँचे एक बार उपयोग के पश्चात् नष्ट हो जाते थे, साँचों के बार–बार बनाने की प्रक्रिया अत्यधिक श्रमसाध्य थी तथा राँगा धातु की कमी आदि। कूट मुद्राओं के लिए साँचों का प्रयोग सबसे उपयुक्त प्रविधि थी। कूट मुद्राओं के प्रचलन में वृद्धि के कारण प्राचीन राजवंशों के द्वारा इस प्रविधि को अधिक प्रश्रय नहीं दिया गया। कालान्तर में उपर्युक्त दोनों प्रविधियों का स्थान ठप्पा–प्रकार प्रणाली ने ग्रहण कर लिया। ठप्पा प्रहार प्रविधि से निर्मित मुद्राएँ स्वर्ण, रजत, ताम्र एवं सीसा आदि सभी धातुओं की मिलती है। इस प्रविधि की मुख्य विशेषता मुद्राओं पर लांछन के लिए भिन्न–भिन्न चिह्न बाते एक बड़े ठप्पे का प्रयोग, लेखनकला का विकास, मुद्राओं को सुडौल बनाने के लिए अपघर्षण एवं तापानुशितन प्रक्रिया आदि थी। एक बार ठप्पे को बनाने के पश्चात् उससे बारम्बार मुद्राओं का उत्पादन किया जा सकता था। अतः प्राचीन भारतीय टकसालों में इस प्रविधि के प्रयोग से शताब्दियों तक मुद्राओं को निर्मित किया जाता रहा। हालाकि पाचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में एक अन्य प्रविधि का उपयोग छत्तीसगढ़ एवं प० ओड़िसा के शरभपुरीय एवं नल शासकों की मुद्राओं में दिखायी देता है जिसे एम०जी० दीक्षित ने संरचना के आधार पर 'उप्पीडितांक' नाम दिया। टी०पी० वर्मा की अवधारणा है कि उप्पीड़ितांक प्रणाली से मुद्राओं के निर्मित किये जाने में उनके वास्तविक मूल्य की अपेक्षा अधिक लागत, समय एवं परिश्रम व्यय होता था। जिसके कारण मुद्रा उत्पादन की यह प्रणाली मुद्रा व्यावसायिकों के बीच कम प्रचलित रहीं एवं सीमित क्षेतों में ही ग्रहण किया गया। अतः 6 वी शताब्दी के पश्चात् इस प्रविधि का उपयोग मुद्रा प्रचलन में समाप्त हो गया एवं सम्पूर्ण भारत में ठप्पे के माध्यम से मुद्राओं को निर्गत किया जाता रहा। ध्वातव्य है कि मुद्रा प्रणाली का विकास एवं विस्तार मुख्यतः धातु की सहजता से उपलब्धता पर आधारित है। हलांकि किसी काल विशेष में मुद्राओं की कमी एवं भार में अधिकता आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उल्लेखनीय है कि जहाँ शुद्धधातु एवं मानक भार की मुद्राएँ प्रचलन में थी वही कम वजन एवं अल्म क्रय शक्ति वाली मुद्राओं का प्रवर्तन भी होता रहा। शुद्ध एवं उच्च बनावट वाली मुद्राएँ समृद्धि तकनीकी ज्ञान एवं धातु प्रचुरता की द्योतक है जबकि अन्य मुद्राएँ आर्थिक अवनति, धातु की कमी एवं निम्न जीवन स्तर को दर्शाती है। स्वर्ण मुद्राओं की अधिकता के कारण ही विद्वानों के द्वारा कुषाण एवं गुप्त काल के

लिए स्वर्ण युग तक की कल्पना की गयी है। अतः उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुद्राओं की बनावट, तौल व धातु संयोजन आदि प्राचीन कालीन सामाजिक सह आर्थिक गतिविधियों एवं तकनीकी दक्षता की उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया को दर्शाती है।

उपर्युक्त वर्णित तथ्यों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में मुद्रा निर्माण प्रणाली देश और काल के अनुसार सदैव परिवर्तनीय रही श्रम एवं लागत को ध्यान में रखकर मुद्रा उत्पादन की क्षमता को बढ़ाने का प्रयास किया गया। 6 वीं शताब्दी ईसा पूर्व भी मुद्राएँ किसी न किसी रूप में विद्यमान थी तदनन्तर ही एक निश्चित आकार एवं तौल की धातु खण्डों का बोध मुद्रा के रूप में हो सका।

सन्दर्भ

1. पाठक, वी० एस०, 'ए सिमेंटिक स्टडी ऑफ न्यूमिस्मैटिक टर्म्स, प्रेसिडेंसियल एड्रेस नोट, जे० एन० एस० आई०, खण्ड–43, भाग–1, एन० एस० आई० (1981), पृ0–3–4.
2. बुद्धघोष, विसुद्धिमग्ग् चौदहवां परिच्छेद, लंदन पाली टेक्स्ट सोसायटी, सी०एच०, खण्ड–14.
3. विद्यालंकार, प्राणनाथ, कौटिल्य अर्थशास्त्र, मोतीलाल बनारसी दास, 1923 पृ० 84.
4. जयादित्य वामन, काशिकावृत्तिः व्याख्याकार नारायण मिश्र खण्ड–2, वाराणसीः रत्ना पब्लिकेशन (1985) 6/2/65.
5. 'रूपादाहतप्रशंसयोर्यप'। अष्टाध्यायी 5/2/120.
6. शास्त्री, अजयमित्र, 'जेम्स जिसेंप एण्ड स्टडी ऑफ द अर्ली इण्डियन हिस्ट्री', ए०बी०ओआर०आई०, खण्ड–80, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, (1999), पृ० 191–201.
7. एलन, जॉन, कैटलॉग ऑफ के क्लायन्स ऑफ एन्शियेंट इण्डिया, लंदनः ब्रिटिश म्यूजियम, (1936) पृ०– 74–76, पृ० 75.

8. कनिंघम, ए०, क्वायन्स ऑफ एन्शियेंट इण्डिया, फ्राम द अर्ली टाइम डाउन टू द सेवेन्थ सेंचुरी ए0डी0, नई दिल्ली : एशियन एजूकेशनल सर्विस (2000) पृ० 541.

9. राय, एस०सी०, दी अनइन्स्क्राइब कास्ट कॉपर क्वायन्स : देअर डिस्ट्रीब्यूशन ऐज एण्ड अदर इसूज, जे०एन०एस०आई० खण्ड–29, भाग–2, पृ०129.

10. ठाकुर, उपेन्द्र, मिन्ट्स एण्ड मिन्टिंग इन इण्डिया, वाराणसी : चौखम्भा संस्कृत सीरीज पृ०136–137.

11. पाण्डेय, दीनबन्धु 'मिटिंग टेक्नीक ऑफ सेन्ट्रल इण्डियन लोकल क्वायन्स', एस०पी०एल०सी०, वाराणसी : बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी (1972) पृ० 87.

12. दीक्षित, एम०जी०, मध्य प्रदेश के पुरातत्व की रूपरेखा सागर : सागर विश्वविद्यालय,(1954) पृ0 16–18.

13. अल्तेकर, ए0एस0, गुप्तकालीन मुद्राएँ, बिहार पटना : राजभाषा परिषद (1999) पृ0 149–151.

14. वर्मा, टी0पी0, नोट ऑन रिपॉस क्वायन्स, जे0एन0एस0आई0 खण्ड–53, (1991), वाराणसी : एन0एस0आई, पृ0 142.

15. मुखर्जी, बी0एन0 एवं पी0के0डी0ली0, टेक्नोलॉजी ऑफ इण्डियन क्वायंस कलकत्ता इण्डियन म्यूजियम (1988) पृ0 18.

16. गुप्ता, चन्द्रशेखर, 'रिपॉस टेक्नीक ऑफ मीटिंग क्वायन्स', एन0एस0, खण्ड–3, हरमन पब्लिशिंग हाउस, (1993) पृ0 73.

17. एनुअल रिपोर्ट, ए0एस0आई0, ए0आर0, 1903–04, कलकत्ता (1906) पृ0 119–122.

18. निगम, एल0एस0 एवं आर0के0 सिंह 'रेयर सिल्वर एण्ड कॉपर रिपॉज क्वायन्स ऑफ प्रसन्नमात्र' जे0एन0एस0आई0 खण्ड–49, वाराणसी : एन0एस0आई0 (1988), पृ0 30.

19. शास्त्री, ए0एम0, शरभपुरीयास, प्राच्य प्रतिभा, खण्ड–5, भोपाल : बिरला इंस्टिट्यूट ऑफ आर्ट एण्ड म्यूजिक (1978), पृ0 34–35.